आलेख

ओमप्रकाश कश्यप

भारतीय दर्शन परंपरा और भक्ति आंदोलन

भारतीय परंपरा में जीवन के चार पुरुषार्थ माने गए है. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष. ये जीवन का मूल तत्व या पदार्थ भी हैं, जिन्हें प्राप्त कर लेना मानवजीवन की वास्तविक उपलब्धि कही जा सकती है. इनमें से पहले तीन की प्राप्ति इसी जीवन में संभव है, जबकि चौथे के लिए मृत्यु के पार दस्तक देना जरूरी है. इस बारे में आगे चर्चा करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि मोक्ष क्या है. भारतीय परंपरा में इसका सीधा-सीधा मतलब है—मुक्ति, यानी संसार के आवागमन से दूर हो जाना. सामान्यत इसका अर्थ उस स्थिति से लिया जाता है जब आत्मा परमात्मा में मिलकर उसका अभिन्न-अटूट हिस्सा बन जाती है. दोनों के बीच का सारा द्वैत विलीन हो जाता है. यह जल में कुंभ और कुंभ में जल की-सी स्थिति है. जल घड़े में है, घड़ा जल में. घड़ा यानी पंचमहाभूत से बनी देह. पानी की दो सतहों के बीच फंसी मिट्टी की पतली-सी क्षणभंगुर दीवार, जिसकी उत्पत्ति भी जल यानी परमतत्त्व के बिना संभव नहीं. वेदांत की भाषा में जो माया है. तो उस पंचमहाभूत से बने घट के मिटते ही उसमें मौजूद सारा जल सागर के जल में समा जाता है. सागर में मिलकर उसी का रूप धारण कर लेता है. यही मोक्ष है जिसका दूसरा अर्थ संपूर्णता भी है, आदमी को जब लगने लगे कि जो भी उसका अभीष्ट था, जिसको वह प्राप्त करना चाहता था, वह उसको प्राप्त हो चुका है. उसकी दृष्टि नीर-क्षीर का भेद करने में प्रवीण हो चुकी है. जिसके फलस्वरूप वह इस संसार की निस्सारता को, उसके मायावी आवरण को जान चुका है. साथ ही वह इस संसार के मूल और उसके पीछे निहित परमसत्ता को भी पहचानने लगा है. उसे इतना आत्मसात कर चुका है कि उससे विलगाव पूर्णतः असंभव है. अब कोई भी लालच, कोई भी प्रलोभन उसको उसके निश्चय से डिगा नहीं सकता. इस बोध के साथ ही वह मोक्ष की अवस्था में आ जाता है. तब उसको जन्म-मरण के चक्र से गुजरना नहीं पड़ता.

मुक्ति का दूसरा अर्थ है आत्मा की परमात्मा के साथ अटूट संगति. दोनों में ऐसी अंतरगता जिसमें द्वैत असंभव हो जाए. परस्पर इस तरह घुल-मिल जाना कि उनमें विलगाव संभव ही न हो. जब ऐसी मुक्ति प्राप्त हो, तब कहा जाता है कि सांसारिक व्याधियों से दूर मन पूरी तरह निस्पृह-निर्लिप्त हो चुका है. जैन दर्शन में इस अवस्था को कैवल्य' कहा गया है. कैवल्य यानी अपनेपन की समस्त अनुभूतियों का त्यागकर 'केवल वही' का बोध रह जाना. यह बोध हो जाना कि मैं भी वहीं हूं और एक दिन उसी का हिस्सा बन जाऊंगा. उस समय न कोई इच्छा होगी न आकांक्षा. न कोई सांसारिक प्रलोभन मुझे विचलित कर पाएगा. इसी स्थिति को बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' की संज्ञा दी गई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—'बुझा हुआ'. व्यक्ति जब इस संसार को जान लेता है, जब वह संसार में रहकर भी संसार से परे रहने की, कीचड़ में कमल जैसी निर्लिप्तता प्राप्त कर लेता है, तब मान लिया जाता है कि वह इस संसार को जीत चुका है. इच्छा-आकांक्षाओं और भौतिक प्रलोभनों से सम्यक मुक्ति ही निर्वाण है. गीता में इस स्थिति को कर्म, अकर्म और विकर्म के त्रिकोण के द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है. उसके अनुसार संसार में सभी व्यक्तियों के लिए कुछ न कुछ कर्म निर्दिष्ट हैं. जब तक यह मानव देह है, कर्तव्य से सरासर मुक्ति असंभव है. क्योंकि देह सांस लेने का, आंखें देखने का कान, सुनने का काम करती रहती है. संन्यासी को भी इन कर्तव्यों से मुक्ति नहीं. जब तक प्राण देह में हैं, तब तक उसको देह का धर्म निभाना ही पड़ता है. तब मुक्ति का क्या अभिप्रायः है! बुद्ध कहते हैं कि देह में रहकर भी देह से परे होना संभव है. हालांकि उसके लिए लंबी साधना और नैतिक आचरण की जरूरत पड़ती है. मोक्ष और निर्वाण दोनों ही अवस्थाओं में जीव जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा लेता है. लेकिन मोक्ष मृत्यु के पार की अवस्था है. जबकि निर्वाण के लिए जीवन का अंत अनिवार्य नहीं. गौतम बुद्ध ने सदेह अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया था. जैन दर्शन के प्रवर्त्तक महावीर स्वामी भी जीते जी कैवल्य-अवस्था को पा चुके थे. किंतु सभी तो उनके जैसे तपस्वी-साधक नहीं हो सकते. तब साधारणजन क्या करें. तो उसके लिए सभी धर्म-दर्शनों में एक ही मंत्र दिया गया है. और वह है अनासक्ति. संसार में रहकर भी संसार के बंधनों से मुक्ति, धन-संपत्ति की लालसा, संबंधों और मोहमाया के बंधनों से परे हो जाना, अपने-पराये के अंतर से छुट्टी पा लेना, जो भी अपने पास है उसको परमात्मा की अनुकंपा की तरह स्वीकार करना और अपनी हर उपलब्धि को ईश्वर के नाम करते जाना, मुक्ति तक पहुंचने का सहजमार्ग है. इसी को सहजयोग कहा गया है. उस अवस्था में कामनाओं का समाजीकरण होने लगता है. इच्छाएं लोकहित के साथ जुड़कर पवित्र हो जाती हैं. दूसरे शब्दों में मुक्ति का एक अर्थ निष्काम हो जाना भी है.

निष्काम होने का अभिप्राय निष्कर्म होना अथवा कर्म से पलायन नहीं है. कर्म करते हुए, सांसारिक कर्मो में अपनी लिप्तता बनाए रखकर भी निष्काम हो जाना सुनने में असंभव और विचित्र-सा लगता है? नादान अकर्मण्यता को ही निष्काम्यता का पर्याय मान लेता है. कुछ लोग निष्काम होने के लिए संन्यास की शरण में जाते रहे हैं. लेकिन देह पर संन्यासी बाना धारण कर वन-वन घूमने से तो सचमुच का वैराग्य संभव नहीं. जब तक मन मोहमाया से ग्रस्त है तब तक कर्मसंन्यास की वास्तविक स्थिति कैसे संभव हो सकती है. इस उलझन को सुलझाने का रास्ता भी गीता मैं है. कृष्ण कहते हैं कि कर्म करो, मगर फल की इच्छा का त्याग कर दो. निष्काम कर्म यानी कर्म करते हुए कर्म का बोध न होने देना, यह प्रतीति बनाए रखना कि मैं तो निमित्तमात्र हूं, कर्ता तो कोई और है, 'त्वदीयं वस्तु गोविंदम् तुभ्यमेव समप्यते' भावना के साथ सारे कर्म, समस्त कर्मफलों को ईश्वर-निर्मित मानकर उसी को समर्पित करते चले जाना ही कर्मयोग है. कर्म करते हुए फल की वांछा का त्याग ही विकर्म है, और यह प्रतीति कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूं, जो किया परमात्मा के लिए किया, जो हुआ परमात्मा के इशारे पर उसी के निमित्त हुआ, यह धारणा कर्म को अकर्म की ऊंचाई जक पहुंचा देती है. संसार से भागकर कर्म से पलायन करने की अपेक्षा संसार में रहते हुए कर्मयोग को साधना कठिन है. इसीलिए तो श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं :

कर्मयोगेश्व कर्मसंन्यासयात् निश्रेयंस कराभुवौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगी विशिष्यते।।

यानी कर्मसंन्यास कर्मयोग की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकता है, तो भी कर्मयोगी होना कर्मसंन्यासी की अपेक्षा विशिष्ट उससे बढ़कर है. कर्मयोगी होना तलवार की धार पर चलकर मंजिल को तक पहुंचना है. सांसारिक प्रलोभनों से दूर होने के लिए उससे भाग जाना कर्म-संन्यास में संभव है, मगर कर्मयोगी को तो संसार में रहते हुए ही उसके प्रलोभनों से निस्तार पाना होता है. ऐसे कर्मयोग को साधा कैसे जाए! संसार में रहकर उसके मोह से कैसे दूर रहा जाए, इसके लिए विभिन्न धर्मदर्शनों में अलग-अलग विधान हैं, हालांकि उनका मूलस्वर प्राय एक जैसा है. मुनिगण इसके लिए तत्व-चिंतन में लगे रहते हैं. ऋषिगण मानव-व्यवहार को नियंत्रित और मर्यादित रखने के लिए नूतन विधान गढ़ते रहते हैं. प्राचीन भारतीय मनीषियों द्वारा चार पुरुषार्थों की अभिकल्पना भी इसी के निमित्त की गई है.

हिंदू परंपरा के चारों पुरुषार्थ असल जीवन के विभिन्न अर्थों में बहुआयामी सिद्धियों के भी सूचक हैं. धर्मरूपी पुरुषार्थ को साधने का अभिप्राय है, कि हम लोकाचार में पारंगत हो चुके हैं. संसार में रहकर क्या करना चाहिए, और क्या नहीं इस सत्य को जान चुके हैं. और हम जान चुके हैं कि यह समस्त चराचर सृष्टि, भांति-भांति के जीव, वन-वनस्पति एक ही परमचेतना से उपजे हैं. एक ही परम-पिता की संतान होने के कारण हम सब भाई-भाई हैं. ध्यान रहे कि धर्म का मतलब पुरुषार्थ के रूप में सिर्फ परमात्मा तक पहुंचने का, उसको जानने की तैयारी करना अथवा जान लेना ही नहीं है. ये सब बातें अध्यात्म के खाते में आती हैं. धर्म और अध्यात्म में यह घालमेल कुछ धार्मिक कूप-मंडूकता और स्वार्थी राजनेताओं के छल का परिणाम है. जब हम धर्म की बात करते हैं. और यह मान लेते हैं कि हमें संसार में रहकर अध्यात्म को साधना है तो मामला नैतिकता पर आकर टिक जाता है. नैतिकता बड़ी ऊंची चीज है. यह कर्मयोगी को राह दिखाती है, कर्मसंन्यासी का पथ-प्रशस्त करती है. नैतिक होना मनसा, वाचा कर्मणा पवित्र होना भी है. आचरण की पवितत्रता, मन की पवित्रता और देह की पवित्रता ही मानवधर्म है. यहां जब हम देह की बात करते हैं तो उसके पीछे उसका पूरा परिवेश स्वतः ही समाहित हो जाता है. मनुष्य बौद्ध धर्म में इसे अष्ठधर्म के सिद्धांत के आधार पर समझाया गया है.

दूसरा हिंदू पुरुषार्थ है, अर्थ. संसार में जीने के लिए, सामाजिकता को बनाए रखने के लिए, आपसी व्यवहार को सुसंगत रूप में चलाने के लिए धन अत्यावश्यक है. वह जीवन-व्यवहार को सहज और सुगम बनाता है. जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन की महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता. यह सामाजिक प्रतिष्ठा का मूल है. मगर यहां एक पेंच है. धन को पुरुषार्थ मान लेने का अर्थ यह नहीं है कि किसी भी तरीके से अर्जित किया गया धन पुरुषार्थ है. या धन है तो उसका हर उपयोग सामाजिक-धार्मिक दृष्टि से मान्य है. चोरी, डकैती, वेश्यावृति और जुआ जैसे दुर्व्यसनों से अर्जित धन को समाज में हेय माना गया है. यहां तक कि उसका तिरष्कार भी किया जाता है. मनुष्यता के उत्थान के लिए साध्य और साधन दोनों की पवित्रता जरूरी है. अत्यधिक धन अर्जित कर लेना, दूसरे के हिस्से का धन हड़प लेना भी पुरुषार्थ नहीं है. धन के पुरुषार्थ मानने का अभिप्राय उससे जुड़े समूचे व्यवहार के मानवीकरण से है. अस्तेय और अपरिग्रह जैसी शास्त्रीय व्यवस्थाएं धर्नाजन और उससे जुड़े प्रत्येक व्यवहार को मानवीय बनाए रखने के लिए की गई हैं. जिसका अभिप्राय है कि चोरी-डकैती अथवा लोकमान्य विधियों से अलग ढंग से अर्जित किया गया धन पाप है. धन उतना ही होना चाहिए जितना कि गृहस्थ जीवन को सुगम बनाए रखने के लिए आवश्यक है. कबीर

ने धनार्जन को लेकर बहुत अर्थपूर्ण बात कही है—

साधु इतना दीजिए जामे कुटुंब समाय,
मैं भी भूखा न रहूं, साधू न भूखा जाए.

धन का अपव्यय आलोचना का विषय है तो उसे व्यय करने के लिए समझदारी की जरूरत पड़ती है. वृथा आडंबरों, लोक-दिखावे, कोरी प्रतिष्ठा, जुआ एवं शराबखोरी जैसे दुर्व्यसनों पर खर्च करने के पुरुषार्थ-सिद्धि असंभव है. दूसरे शब्दों में धन को पुरुषार्थ की गरिमा से विभूषित करना, तत्संबंधी प्रत्येक व्यवहार को मानवीय रूप प्रदान करना है. इस तरह सिर्फ लोकमान्य विधि से अर्जित धन को लोकमान्य तरीकों से खर्च करने में ही में पुरुषार्थ-सिद्धि संभव है.

काम को हिंदू-परंपरा तीसरे पुरुषार्थ के रूप में मानती है. संसार को गतिमान बनाए रखने के लिए काम अत्यावश्यक है. इससे संततिचक्र आगे बढ़ता है. इसके लिए भी धार्मिक व्यवस्थाएं है. मुक्त, उच्छृंखल काम-संबंध समाज-व्यवस्था को न केवल धराशायी कर सकते हैं, बल्कि उसमें इतना विक्षोभ पैदा कर सकते हैं कि यह पूरा का पूरा सिस्टम ही छिन्न-भिन्न हो जाए. काम को नियमित-नियंत्रित करने के लिए ही विभिन्न सामाजिक संबंधों की व्यवस्था हुई है, उनके लिए मर्यादाएं निश्चित की गईं. नैतिकता को बनाए रखने के लिए जो नियम बने उन्हें धर्म और धार्मिकता का आवरण प्रदान किया गया, जिससे वे अधिक से अधिक लोगों के लिए सहज-ग्राह्यः हो सकें. यहां तक कि उनके साथ आस्था का प्रसंग भी जोड़ा गया, ताकि वृहद सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उन्हें कुछेक व्यक्तियों के हित में तोड़ा-मरोड़ा न जा सके. वैवाहिक संस्था के गठन का प्रमुख उद्देश्य काम-संबंधों को सामाजिक मर्यादा के दायरे में लाना ही है. निर्धारित कसौटियों पर खरे उतरने वाले काम-संबंध ही तीसरे पुरुषार्थ के रूप में मान्य कहे जा सकते हैं. प्रथम तीनों पुरुषार्थों की सिद्धि के साथ मनुष्य जब धर्म को अपना आचरण बना लेता है, सदाचार और सद्व्यवहार उसके रोजमर्रा के जीवन का अंग बन जाते हैं, 'अर्थ' और 'काम' के बीच जब वह संतुलन कायम कर चुका होता है, तब वह परमात्मा के करीब पहुंच जाता है. इसी को मोक्ष कहा जाता है, जहां सिर्फ पवित्रता ही पवित्रता है. किसी भी प्रकार का विक्षोभ या विकार नहीं. यदि कोई विक्षोभ है, यदि कहीं विकार अथवा असंगति नजर आती है, तो दोष हमारी दृष्टि का है, उस विधान का है जो हमने अपनी सुविधा के हिसाब से प्राकृतिक नियमों को ताक पर रखकर रचा है.

हिंदू धर्म के चारों पुरुषार्थ मानव जीवन को मर्यादित करते हैं. मनुष्य को सिखाते हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं. लेकिन आप इसे जनसामान्य की दुनिया से उकताहट का परिणाम माने अथवा उसकी अपने आराध्य के प्रति समर्पण की तीव्र अभिलाषा, या फिर अलभ्य को पा लेने की सहज-स्वाभाविक लालसा, जिसके कारण वह मात्र नियंत्रित जीवनचर्या यानी पुरुषार्थ-चातुर्य पर निर्भर नहीं रहना चाहता. मोक्ष की कामना उसको वैकल्पिक रास्तों तक ले ही जाती है. धर्मशास्त्रों में मुक्ति यानी परमात्मा को पाने के जो दो प्रमुखमार्ग बताए गए हैं, पहला है ज्ञानमार्ग. वस्तुतः मानव जिज्ञासा की पहली उड़ान इस सृष्टि और उसके रचियता के बारे में जान लेने के बोध के साथ ही हुई थी. ज्ञानमार्गी के अनुसार ईश्वर की दी गई इंद्रियां और दिमाग उस तक पहुंचने का सर्वोत्तम माध्यम हैं. परमात्मा को जान लेना ही उसको प्राप्त कर लेना है—ज्ञानमार्गी इसी विश्वास के साथ चिंतन-मनन में डूबे रहते थे. उनकी ज्ञानसाधना के सुफल के रूप में अनेक दर्शनों का जन्म हुआ. वेद, उपनिषद आदि महान ग्रंथों की रचना हुई. ये उदाहरण सिर्फ भारत के हैं. विश्व की बाकी सभ्यताओं में सृष्टि से जुड़ी जिज्ञासा ने भी अनेक दर्शनों को जन्म दिया है. हालांकि इस क्षेत्र में उनकी उपलब्धियां भारतीय मेधा का ही अनुसरण करती हुई नजर आईं. बल्कि कहना चाहिए कि वे भारतीय वांङमय की उत्कृष्ट व्याख्या अथवा पुनर्प्रस्तुति से आगे न बढ़ सकीं.

ज्ञानमार्गी परंपरा को विस्तार देते हुए आदि शंकराचार्य ने नवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में अद्वैत दर्शन का विचार प्रस्तुत किया था. उन्होंने जैमिनी के मीमांसा दर्शन द्वारा पोषित-प्रेरित रूढ़ हो चुके कर्मकांड़ों और लोकायतों के भौतिकवादी दर्शन की जगह वेदांत दर्शन को स्थापित किया. इसके लिए उन्होंने देश के विभिन्न भागों में जाकर बौद्धों और मीमांसकों से गंभीर दार्शनिक शास्त्रार्थ किए थे, जिनमें उनका मंडन मिश्र के साथ हुआ शास्त्रार्थ जगत-प्रसिद्ध है. अपनी अप्रतिम प्रतिभा के बल पर शंकराचार्य ने परमात्मा को अनित्य, अनादि, अनंत, अनश्वर, अविकल्प सत्ता माना था. प्रत्युत्तर में उनके परिवर्ती रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत दर्शन का सिद्धांत रखा. दोनों के ही विचारों में अवतारवाद को मान्यता दी गई थी, लेकिन शंकराचार्य द्वारा जीवन और सृष्टि के रहस्यों का विश्लेषण अधिक तार्किक था. सृष्टि के मूल के रूप में शंकराचार्य ने 'बृह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की अवधारणा के साथ जिस निस्सीम, निर्विकल्प, अनादि और अनंत परमसत्ता की संकल्पना समाज के सामने रखी, वह वेदों और उपनिषदों से उद्भूत थी, जिसके आगे ईश्वर और उसके अवतारों को बहुत कम महत्त्व दिया गया था. दूसरी ओर रामानुज ने सदेह

ईश्वरवाद को महत्त्व देते हुए विष्णु को सृष्टि का पालक और संचालक माना. वेदांत दर्शन के अंतर्गत शंकराचार्य ने सृष्टि की तत्वमींमासीय व्याख्या की थी, उनके द्वारा स्थापित चार मठों में प्रमुख गोवर्धनपीठ का तो मुख्यवाक्य ही 'प्रज्ञानम् बृह्म' (ज्ञान ही बृह्म) है. लेकिन जनसाधारण के लिए उन्होंने भक्ति को भी महत्त्वपूर्ण माना. यही कारण है कि शंकराचार्य और उनका दर्शन स्मार्त्त और वैष्णव दोनों संप्रदायों में एकसमान प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका.

शंकराचार्य के प्रयासों से हिंदू धर्म संगठित हुआ. मगर कुछ ही अर्से बाद ज्ञान की उस परंपरा में ठहराव आने लगा. कुछ स्वार्थी, धर्मान्धा और कर्मकांड-प्रिय लोगों ने अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए समाज को जातीय आधार पर विभाजित करना आरंभ कर दिया. वर्गभेद को शास्त्रीय आधार प्रदान करने के लिए स्मृति और पुराण गढ़े जाने लगे. उनके माध्यम से परमसत्ता के प्रतीक रहे 'बृह्म' के स्थान पर दो-हाथ, दो पांव वाले 'बृाह्मण' को स्थापित करना शुरू दिया, जिसका ज्ञान की पुरातन परंपरा से कोई लगाव न था. विभिन्न मताबलंबियों के बीच आए दिन के विवाद छिड़ने और बहस का स्तर नीचे जाने से प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं का स्थूलीकरण होने लगा. परिणामस्वरूप चिंतनधारा सूखने लगी. कर्मकांडों और रूढ़ियों के बढ़ते प्रभाव के कारण धर्म अपनी ही मूल स्थापनाओं से परे हटने लगा. इस नई परंपरा में जनसाधारण के लिए, सिवाय उसके सामाजिक-आर्थिक-सामाजिक शोषण के कोई और स्थान न था.

एक के बाद एक दर्शनों की खोज एवं विशद्-चिंतनपरक भीमकाय ग्रंथों की रचना के बावजूद जब मुनिगण ज्ञान के द्वारा परमात्मा और उसकी सृष्टि के बारे में उठे प्रश्नों का सही और सटीक जबाव देने में नाकाम रहे तो लोगों को लगने लगा कि मनुष्य के बुद्धि-विवेक की भी सीमा है. इनके माध्यम से जीवन और संसार की अनेक समस्याओं को सुलझाया तो जा सकता है, मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को नित-नए रूप और उड़ान भी दी जा सकती है. मगर इससे सृष्टि और उसकी संरचना से जुड़े अनगिनत प्रश्नों को पूरी तरह हल नहीं किया जा सकता. इसका एक कारण तो यह था कि दार्शनिक खोजें जो कभी चिंतन और मनन का विषय हुआ करती थीं, प्रकारांतर में जड़बुद्धि लोगों के हाथों में पहुचकर कोरा वितंडावाद बन चुकी थीं. तब अपनी सहजबुद्धि से लोगों ने यह मान लिया कि परमात्मा अदृश्य और अगोचर है. वह इतना विराट और विलक्षण है कि उसपर संदेह किया ही नहीं जा सकता. देखा जाए तो यह मानव-बुद्धि का पलायनवाद ही था. मगर उन स्थितियों में वही जरूरी भी था. एक बार जब यह मान लिया गया कि ईश्वर अगम-अगोचर है, उसके विराट एवं विलक्षण रूप की व्याख्या कर पाना सीमित क्षमता वाली मानवीय इंद्रियों की पहुंच से बाहर है, तब उसको जानने का एक ही रास्ता बचता था, वह था भक्ति और समर्पण का, जो आगे चलकर भक्ति आंदोलन का जनक बना.

शाब्दिक दृष्टि से देखें तो भक्ति शब्द 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बना है. जिसका अर्थ है भजना, स्मरण-अर्चन करना. यह ईश्वर के प्रति मनुष्य की गहन अनुरक्ति का सुफल है, उसके कार्यों में सहज हिस्सेदारी है. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति को धर्म का प्राणतत्व, उसकी रसात्मक अभिव्यक्ति माना है. भक्ति-परंपरा में विश्वास रखने वाले मानते हैं कि परमात्मा अनादि-अनंत और परमकृपालु है. सीमित इंद्रियों के माध्यम से उसको प्राप्त करना असंभव है. आत्मा उसी का अंश है, लेकिन वह इस संसाररूपी माया के फेर में फंसकर अपनी पहचान भूल चुकी है. परमात्मा अपनी सृष्टि के उद्धार के लिए समय-समय पर अवतार लेता है. उसको पाने का एकमात्र उपाय है, खुद को अपने ईष्ट, अपने आराध्यदेव के समक्ष पूरी तरह समर्पित कर देना. अपनी हार-जीत, अपने संपूर्ण सपने, समस्त आशा-आकांक्षाएं उसपर न्योछावर कर देना. भक्ति की पराकाष्ठा में भक्त अपने आराध्यदेव के सिवाय कुछ भी याद नहीं रखना चाहता. अपने चारों और यहां तक भी अपने भीतर ही वह अपने आराध्य के दर्शन करता है. और जब भक्त अपने आराध्य से एकाकार हो जाता है, उसकी भक्ति में एकनिष्ट होकर पूरे संसार को बिसरा देता है तो फिर मुक्ति का लक्ष्य उसके लिए सहज-सुलभ हो जाती है. सांसारिक व्याधियां उससे दूर भागने लगती हैं. धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष चारों पुरुषार्थ उसकी चाकरी करने लगते हैं. मोक्ष चरणों में उतरकर उसका सेवादार बन जाता है. ऐसे भक्त-शिरोमणि के लिए कर्म और अकर्म का भेद मिट जाता है. उसका हर कर्तव्य धर्मसम्मत होता है. अपने आराध्य के संसर्ग में वह जो प्राप्त करता है, वह बड़े-बड़े साधु-संत, ज्ञानी-ध्यानी को भी उपलब्ध नहीं हो पाता. इसलिए प्रेममार्ग से अपने आराध्य को पा चुके भक्त के आगे बड़े-बड़े ज्ञानी भी नतमस्तक होते हैं, वे उसकी चाकरी करके भी खुद को धन्य समझते हैं तथा उसकी पहुंच उसके प्रेम-समर्पण के आगे स्वयं को समर्पित कर देते हैं. ऐसे भक्त शिरोमणि के आगे सारे ज्ञान, सारी सिद्धियां, सारे प्रलोभन छोटे पड़ जाते हैं—

चार पदार्थ करें मजूरी
मुक्ति भरे यहां पानी
कर्म-धर्म दोऊ बंटें जेबड़ी
छान छहें ब्रह्मज्ञानी

आशय यही था कि भक्त के लिए सबकुछ सुलभ है. दुनिया की बड़ी से बड़ी शक्ति उसकी ऋद्धा और आस्था के आगे नतमस्तक हो जाती है.

भक्ति की पहली ताजी-ताजी बयार लगभग बारहवीं शताब्दी में बही थी. एकदम नए उद्‌गम स्थल से. उस वर्ग की ओर से जो अभी तक धार्मिक-आर्थिक-सामाजिक शोषण का शिकार रहा था. उसके उद्‌गाता संतकवियों में से अधिकांश या तो शूद्र थे, अथवा उससे भी नीचे के अन्त्यज. दरअसल यह कर्मकांड के नाम पर रूढ़ियां और ज्ञान के नाम पर कोरा वितंडा रच रहे धार्मिक पाखंडियों के विरुद्ध जनसाधारण का पहला सशक्त सामाजिक-सांस्कृतिक विद्रोह था. इन कवियों ने वेदांत से प्रेरणा लेकर 'निर्गुण' आराध्य की परिकल्पना की और एक निर्मल-निराकार-निर्विकल्प-अनादि और अनंत परमात्मा की भक्ति में खुद को तल्लीन कर दिया. वर्णव्यवस्था के इतिहास में यह पहला अवसर था, जब शूद्रों ने अपने ही संत-महात्मा पैदा किए तथा अपने से कथित ऊंचे वर्ग के शासकों और विचारकों के लिए खुली चुनौती पेश की. उन्होंने न केवल धर्म के नाम पर थोपे जा रहे कर्मकांडों को चुनौती दी, बल्कि वर्गभेद की तीखी आलोचना करते हुए एक समरस समाज की स्थापना के लिए गीत भी लिखे. स्मरणीय है कि भक्ति आंदोलन का उद्‌भव इतिहास के उस दौर में जब भारत पर विदेशी हमले बढ़ने लगे थे. और छोटे-छोटे राज्यों में बंट चुका यह देश अपनी राजनीतिक-सांस्कृतिक अस्मिता को बचाने के लिए जूझ रहा था और भारत की ज्ञानमार्गी परंपरा निरर्थक बहसों तथा कर्मकांडों में फंसकर वह धार खो चुकी थी, जिसने उससे पांच-छह सौ वर्ष पहले तक भारतीय अध्यात्म-चेतना को पूरी दुनिया में प्रतिष्ठित करने का काम किया था.

दक्षिण भारत और महाराष्ट्र से होती हुई भक्ति की यह परंपरा उत्तर भारत में पहुंची, जहां कबीर, रैदास आदि ने धर्म के नाम पर आडंबर फैलाने वालों को सीधे चुनौती पेश की. इसके लिए यथास्थितिवादियों ने उनपर जमकर हमले किए. उन्हें तरह-तरह की प्रताड़नाएं दी गईं. संत ज्ञानेश्वर जैसे संत को भी आडंबरवाद का सामना करना पड़ा. कट्‌टरपंथियों के अत्याचार-अनाचार के कारण उनका जीवन अत्यंत कष्ट और दुःख में बीता. उनके महान ग्रंथ ज्ञानेश्वरी की उपेक्षा कर उसको तीन सौ वर्षों तक दबाए रखा गया. लेकिन उसके बाद जब वह अप्रतिम ग्रंथ दुनिया के सामने आया तो जनसाधारण की आंखें खुलने लगीं. संत ज्ञानेश्वर के महत्त्व को पूरी दुनिया ने स्वीकारा. उनके अलावा चोखामाला, एकनाथ और नामदेव ने भी महाराष्ट्र में निर्गुण भक्ति को आंदोलन का रूप दिया. वहां से यह आंदोलन देश के अन्य भागों में भी फैला. संत रविदास, कबीर, दादू दयाल, पल्टु, सेना नाई, नाभादास, चरणदास आदि अनेक संतों ने 'निरगुनिया' के माध्यम से प्रेम और भक्ति का संदेश देश के कोने-कोने तक पहुचाने का काम किया. उन्होंने अनेक जाति-वर्गों में बंटे समाज में समानता एवं समरसता के विचार को आगे बढ़ाया और जोर देकर इंसान-इंसान के बीच मौजूद ऊंच-नीच की दीवार को ढहाने का क्रांतिकारी प्रयास किया. निगुर्णपंथी, प्रेममार्गी विचारधारा पर सूफी फकीरों का भी प्रभाव था.

निर्गुण भक्त कवियों का जनसाधारण पर व्यापक असर हुआ. समाज में उनकी प्रतिष्ठा इतनी तेजी से बढ़ने लगी कि वह वर्ग जो प्रारंभ में उनका उपहास उड़ाता था, उनकी राह में नई-नई अड़चनें प्रस्तुत करता था, बदले समय में वह भी भक्ति-परंपरा से जुड़ने लगा. इससे आंदोलन की प्रतिष्ठा को बल मिला. यह केवल भारत में ही नहीं, बल्कि हर समाज हर देश में होता रहता है. ईसाई धर्म जब तक गिने-चुने कबीलों तक सीमित था, तब तक धनी और सत्ताधारी वर्ग उनकी उपेक्षा करता था. ईसा मसीह ने जब खुद को परमात्मा का बेटा कहा तो उसी वर्ग ने उन्हें सूली तक ले जाने का काम किया था. मगर जब ईसाई धर्म का संदेश पूरी दुनिया में फैलने लगा तो वह वर्ग जो अभी तक उनकी आलोचना करता आया था, खुद का उनका सबसे बड़ा समर्थक घोषित करने पर जुट गया. बहरहाल, समाज के उच्च वर्गों से गए अधिकांश भक्त-कवि अपनी वर्गीय निष्ठा से मुक्त नहीं हो पाए थे. भक्ति आंदोलन की लोकव्याप्ति और उसकी जनसाधारण पर उसकी पकड़ का लाभ उठाते हुए, उन कवियों ने धीरे-धीरे अपने आराध्य का स्थूलीकरण करना आंरभ कर दिया. भक्ति और समर्पण के नाम पर अपने आराध्य का नख-शिख गुणगान करते हुए उन्होंने अपनी सारी प्रतिभा उसके शृंगारिक वर्णन को रसमय और विलासितापूर्ण बनाने पर लगा दी. तुलसी जैसे संत कवियों ने अपने आराध्य की चारित्रिक कमजोरियों को नजरंदाज कर, सिर्फ उसके गुणगान पर ध्यान दिया. उनका दासभाव धार्मिक पाखंडियों और सामंतों के लिए यथास्थति बनाए रखने में सहायक सिद्ध हुआ. इससे भक्तिगीतों में सामंती चरित्रों का उभरना स्वाभाविक था. इसके परिणामस्वरूप भक्ति आंदोलन का क्रांतिकारी स्वरूप धूमिल पड़ने चला गया, जिसकी नींव संत ज्ञानेश्वर, रविदास, कबीर आदि संतकवियों ने की थी; और आगे चलकर गुरु नानकदेव ने जिसके आधार पर स्वतंत्र धर्म की स्थापना की.

कालांतर में भक्ति-आंदोलन दो हिस्सों में बंटता चला गया. एक वर्ग था जो परमात्मा को निर्गुण मानकर उसकी अराधना करने में विश्वास रखता था. दूसरे को उसका साकार रूप पसंद था. तुलसी, सूर, मीरा, हरिदास, दादू आदि अधिकांश संतों ने परमात्मा के सगुण और साकार रूप का गुणगान किया. भक्तिमार्गी संतों में रामानंद, तुलसी आदि ने राम को अपना आराध्यदेव माना तो मीरा, सूर, हरिदास आदि की

भक्ति कृष्णप्रेम के रूप में प्रकट हुई. सामाजिक वर्ण-विभाजन का असर यहां भी देखने को मिलता है. सगुण भक्ति के प्रमुख उपासकों में से अधिकांश उस वर्ग से संबद्ध थे, जिन्हें तात्कालिक समाज-व्यवस्था का लाभ मिला था. राम और कृष्ण को अपना आराध्य मानने वाले संतकवियों की सामाजिक पृष्ठभूमि में भी अंतर था. यहां यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि मनुष्य के रूप में राम का जीवन मर्यादाओं से आबद्ध था. उन्होंने रावण विजय से आर्य-संस्कृति का डंका समुद्र पार लंका में बजाया, मगर अयोध्या लौटने पर निर्दोष सीता का निष्कासन और शंबूक की हत्या उनके चरित्र पर लांछन जैसे हैं. दूसरी ओर कृष्ण का जीवन सोलह कला-संपूर्ण, राम के व्यक्तित्व की अपेक्षा अधिक लालित्य-ललाम है. वे गोपियों के अंतरंग सखा के रूप में उनके साथ-साथ नृत्य करते हैं, बांसुरी की तान पर उन्हें रचाने की लीला करते हैं, तो संकट के समय गोवध नि पर्वत को उठाकर संपूर्ण ब्रजमंडल की रक्षा भी करते हैं. यही नहीं युद्ध-भूमि में युद्ध की विभीषिका और भीषण तनाव के बीच भी वे अपने धैर्य को बनाए रखते हैं, और विकट परिस्थितियों के बीच गीता का उपदेश देते हैं. युद्धस्थल पर अपने सखा अर्जुन को दिया गया निष्काम कर्म का उनका उपदेश अनूठा है, जिसमें वे न केवल सांसारिक व्यवहार की ऊंच-नीच से अर्जुन को परचाते है, बल्कि विषम परिस्थितियों में अपनी मानसिक एकाग्रता कायम रखने का उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं. कृष्ण का यही गुण उन्हें असाधारण बनाते हुए ईश्वरीय गरिमा से विभूषित करता है. रावण विजय के पश्चात निर्दोष सीता को निष्कासन की सजा देना राम की मर्यादा पर लांछन जैसा है, जबकि कृष्ण राधा को ब्रज में छोड़ जाते हैं, और सत्यभामा से ब्याह रचा लेते हैं. बावजूद इसके कोई उनके देवत्व पर उंगली नहीं उठाता. बल्कि इससे वह और भी ऊंचा उठ जाता है. इसलिए भक्ति की प्रेममार्गी चिंतनधारा में कृष्ण सर्वदा वरेण्य हैं. ऐसी ही भक्ति को प्राप्त कर चुकी ब्रज की गोपियां उद्धव के सारे तत्वज्ञान को नकार देती हैं. उनके आगे आखिकार उद्धव को ही हार माननी पड़ती है. गोपियों को निर्गुण भक्ति का पाठ पढ़ाने आए ब्रह्मज्ञानी उद्धव अपढ़ गोपियों से हार मानकर मथुरा वापस लौट जाते हैं. श्रीमद् भागवद् में कृष्ण के जीवन के उदात्त पक्षों को दिखाया गया है. इसमें उनके जीवन की न केवल लीलाएं हैं. बल्कि बाल्यकाल से लेकर बड़े होने तक कृष्ण की वीरता और बुद्धिमानी का भी लेखा है. सीता निष्कासन और शंबूक हत्या से जुड़े मामलों में राजा राम अपने गुरु वशिष्ट की आज्ञा का अक्षरश पालन करते हैं, जबकि कृष्ण जनसाधारण के कल्याण के लिए देवराज इंद्र की चुनौती स्वीकारने में भी पीछे नहीं रहते. इसलिए यह अकारण नहीं कि राम का व्यक्तित्व समाज में यथास्थिति के पक्षधरों को अपने वर्गीय हितों के अनुकूल जान पड़ता था. इनमें भी राम को अपना आराध्य मानने वाले लगभग सभी संत-कवि उच्च जातिवर्ग से संबद्ध हैं. निम्न जाति वर्ग से आए भक्त कवि अब भी निर्गुण परमात्मा का ही गुणगान कर रहे थे.

तात्कालिक सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का लाभ सगुणपंथियों को मिला. धीरे-धीरे भक्ति में सगुण तत्व प्रधान होता चला गया. भक्त कवियों ने ऊंच-नीच और सांप्रदायिकता को मिटाकर समाज में समरसता लाने के लिए बहुत काम किया है. लेकिन यह काम जितना निर्गुण भक्त कवियों ने किया, सगुण उपासक उतना नहीं कर सके. इसका एक कारण यह भी है कि अधिकांश निर्गुण उपासक समाज के पिछड़े वर्ग से संबंधित थे. उन्होंने सामाजिक ऊंच-नीच और तज्जनित उत्पीड़न को सहा था. इसलिए उनकी कविता क्रांतिकारी थी, उसमें सामाजिक बदलाव का स्वर मौजूद था. जबकि तुलसी, सूर, हरिदास जैसे सगुण उपासकों ने अपने आराध्य की जिस रूप में परिकल्पना की थी, वह बहुत कुछ सामंतवादी किस्म की थी. उनके आराध्य सत्ताकेंद्रों पर विराजमान, समाज के कथित उच्च एवं शक्तिशाली वर्गों के प्रतिनिधि थे. इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में जातीय विभाजन को चाहे-अनचाहे मान्यता मिलने लगी, जिससे सामाजिक समरसता का वह सपना जो निर्गुण भक्त-कवियों ने देखा था, वह शनै-शनै धूमिल होने गया. मुक्तिबोध ने इस स्थिति पर बहुत ही सार्थक टिप्पणी की थी, उनके अनुसार निचली जातियों के बीच से पैदा होने वाले संतों के द्वारा निर्गुण भक्ति आंदोलन एक क्रांतिकारी आंदोलन के रूप में पैदा हुआ. किंतु आगे चलकर ऊंची जाति वालों ने इसकी शक्ति को पहचानकर अपनाया और उसको अपने (सामंती) विचारों के अनुरूप ढालकर उसको राम और कृष्ण की सगुण भक्ति का रूप दे डाला. जिससे उसके क्रांतिकारी दांत उखड़ गए. इस प्रक्रिया में कृष्ण-भक्ति में तो कुछ क्रांतिकारी तत्व बचे रह गए, लेकिन राम-भक्ति में जाकर तो उसके रहे सहे तत्व भी गायब हो गए. शायद इसलिए कि कृष्ण का जीवन और व्यवहार लोकतांत्रिक अवधारणाओं के अपेक्षाकृत अधिक करीब है. बावजूद इसके जीवन और समाज में भक्ति की महत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता. यह मानव मन के विकारों और सामाजिक अंतर्विरोधों का शमन कर मनुष्य को अहंकारमुक्त करने का काम करती है, जो सामाजिक समरसता एवं एकता के लिए अनिवार्य हैं.

opkaashyap@gmail.com